छद्म मुक्ति का नारी विमर्श

डॉ0 रवीन्द्र कुमार सिंह*

आज जीवन के हर क्षेत्र में बाजार का दखल कुछ ज्यादा बढ़ गया है। वस्तु विनमय के स्थान पर मुद्रा के चलन ने अर्थ को जीवन में महत्त्वपूर्ण स्थान दिया। व्यक्ति की क्रय क्षमता को तोलने का अधिकार बाजार को मिला। बाजार पर अधिकार की क्षमता व्यक्ति को ताकतवर बनाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करती है, पर यह बाजार व्यवस्था कभी भी कमजोर असहाय लोगों के पक्ष में नहीं रही। यह अजीब त्रासदी है कि आज तमाम मुक्ति–प्रसंगों को भी बाजार अपने हिसाब से चर्चा करने के लिए प्रेरित कर रहा है, या यह कहें कि मजबूर कर रहा है। आज नारी–विमर्श को मीडिया के सहयोग से जिस तरह भ्रमित कर रहा है, वह अपने आप में भयानक है। इधर के दो दशकों में हिन्दी में स्त्री–विमर्श पर चल रही चर्चाओं पर गम्भीरता से नजर डालें तो कई तरह की विवादास्पद और अर्न्तविरोधी बातें उभरकर सामने आती हैं, जिनसे स्त्रियों की स्वतंत्रता, अधिकार की परिभाषा पुरुषों द्वारा गढ़ी जा रही है, वहीं दूसरी तरफ स्त्रियाँ भी अपनी स्वतंत्रता की कुछ अजीब परिभाषा रच रही हैं। इसमें सबसे बड़ा प्रभावी कारक बाजार और आधुनिकता के नाम पर पैदा हो रहा अधकचरा सामाजिक परिवर्तन है। 'स्त्री का, स्त्री के द्वारा, स्त्री के लिए लेखन'– इस दृष्टि से विचार करने पर स्त्री–विमर्श व्यक्तिगत अनुभव के संसार तक सिमटकर सिर्फ आत्मालाप तक सीमित होने का खतरा सौंपता है।.........यह सही है कि स्त्री का स्त्री के लिए लेखन साहित्य को नयी भाषा, नया पाठ और नई दृष्टि देता है, जिसका स्वागत और रेखांकन अनिवार्य है। परन्तु इसे स्त्री तक सीमित करने से जहाँ पुरुष 'स्त्री–विषय' से बाहर का व्यक्ति हो जाता है, स्त्री भी 'स्त्री–विषय' तक सीमित हो जाती है और कई बार स्त्री लेखन को दोयम दर्जे का लेखन समझने के खतरे भी उठाने पड़ते हैं।'[1] स्त्रियों को लेकर पुरुषों द्वारा बनायी जा रही स्वतंत्रता की हदों में कई तरह के मतभेद हैं। एक वर्ग है जो परंपरावादी दृष्टिकोण से स्त्रियों को देखता है और उसके लिए अब भी पुराने मानदंड और सीमाएँ तय करता है, वहीं दूसरी तरफ पाश्चात्य विचारधारा और संस्कृति के रंग में रंगा आधुनिक पुरुष स्त्रियों की स्वतंत्रता की नयी परिभाषा गढ़ना चाहता है और यौन के स्तर पर/देह के स्तर पर उसकी स्वतंत्रता की वकालत करता है। इन दोनों वर्गों की सोच में जो साजिश अन्तर्निहित है, उन्हें समझने की जरूरत है। पहला वर्ग स्त्री स्वतंत्रता के नाम पर उसे सीमित शिक्षा और चुनिंदा क्षेत्रों में भागीदार बनने की छूट देता है, वह भी इस शर्त के साथ कि घर की देहरी के भीतर की सारी जिम्मेदारियाँ भी अंततः स्त्री को ही उठानी पड़ेंगी। यानि काम के स्तर पर स्त्री का दायरा बढ़ा रहा है, मगर देह और दूसरे स्तरों पर उसे अब भी पुरुष अपने बनाये नियम कायदे में रखना चाहता है।[2]

दूसरा वर्ग, जो पाश्चात्य सभ्यता और संस्कृति के पीछे पागल है और भोग–विलास जिसकी प्राथमिकता है; स्त्री को स्वतंत्र करने के क्रान्तिकारी दावे कर रहा है पर व्यवहार में वह भी स्त्री को कहीं न कहीं एक वस्तु के रूप में ही ले रहा है। वह परंपरा से जुड़ी धर्म, संस्कृति, नैतिकता, मूल्य, संस्कार, चरित्र जैसे शब्दों को बेमानी मानते हुए घोर विरोध करता है। विरोध के पीछे वह तर्क गढ़ता है कि इन शब्दों की आड़ में मानवाधिकारों का हनन हो रहा है। आश्चर्य तो इस बात का होता है कि इस पुरी शोषण प्रक्रिया में आभिजात्य वर्गीय घरों की स्त्रियाँ उन पुरुषों के घिनौने विचारों के लिए मुखौटा का काम करती हैं। स्त्री मुक्ति के नाम पर वे उन सामान्य स्त्रियों को उन तमाम मूल्यों को वर्जना का नाम देकर उनके खिलाफ विद्रोह करने की प्रेरणा देती हैं और वह विद्रोह ही क्रमशः उनके शोषण के मार्ग को प्रशस्त करता है। आज नयी पीढ़ी के लिए रिश्तों के मायने बदल गये हैं। महानगरों में 'लिव इन रिलेशनशिप/एक रात का रिश्ता' लोकप्रिय हो रहा है। इसमें स्त्री जिस तरह से इस्तेमाल हो रही है, यह बड़े विमर्श का विषय है। इस प्रकार दोनों प्रकार की मुक्तिओं में स्त्री के दर्द का व्यावहारिक ख्याल अनुपस्थित है।

प्रश्न उठता है कि क्या स्त्रियाँ स्वयं अपनी मुक्ति के रास्ते ढूँढ़ पा रही हैं? फिलहाल मुक्ति का जो विमर्श है, उसे देखते हुए निराशा होती है। कारण, स्त्रियों के ऊपर होने वाले तमाम प्रकार के अत्याचारों का जो आँकड़ा है, वह क्रमशः बढ़ता ही जा रहा है और यही नहीं अत्याचार के और कई नये प्रकार भी ईजाद किये गये हैं। यह स्त्रियों के लिए चिंता और राष्ट्र के लिए शर्म की बात है। यहाँ दिक्कत इस बात की है कि इस मुक्ति–विमर्श के मुद्दे पर स्वयं स्त्रियों के विचार भी परस्पर अन्तर्विरोधी हैं। यहाँ परम्परावादी तबका स्त्री–मुक्ति को जो दृष्टि देता है, वह स्त्रियों के लिए पुरुषों की अधीनता और उसके निर्णयों को ही अन्तिम तौर पर मानने की हिमायती है। दूसरा तबका स्त्रियों की परंपरागत नैतिकता के साथ–साथ आधुनिकता के नये मानदण्डों को अपनाते हुए स्त्री–मुक्ति की वकालत करता है, पर वह न सही तरीके से आधुनिकता को, न नैतिकता के उसूलों को समझ रही है। एक तीसरा वर्ग भी है जो स्त्री के बदलते रिश्ते के आधार पर स्त्रियों की स्वतंत्रता की बात करता है, पर वह भी पुरुषों के देह–विमर्श के भ्रम में उलझा सा लगता है। यह बात मुक्ति–विमर्श में शामिल तमाम साहित्यकारों पर भी लागू होता है।

सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक स्तर पर स्त्रियों के भीतर भी कई विभाजन हैं और उनके सोच–विचार का अपना एक अलग तरीका और एक अलग संसार है। एक तरफ जहाँ पतिव्रता स्त्रियाँ अपने ढंग से अपनी दुनियाँ में जीती, अपने तर्क रचती हैं, वहीं दूसरी तरफ खुद स्त्रियाँ घर–परिवार की परिधि से बाहर निकल पुरुषों का लगभग इस्तेमाल करते हुए व्यवसाय की ऊँचाई प्राप्त कर रही हैं। जो स्त्रियाँ सोचती हैं कि वे पुरुष को 'यूज' कर रही हैं, वह यह भी सोचें की

Scanned with OKEN Scanner

इसका कितना बड़ा मूल्य वे चुका रही हैं। इस तरह देखा जाय तो स्थिति बेहतर नहीं हो रही है, बिगड़ ही रही है। जो स्त्रियाँ कल तक अपने घर–परिवार के पुरुषों द्वारा शोषित होती रही थीं या हैं या छली जाती रही थी, आज समूचे पुरुष वर्ग द्वारा छली जा रही हैं, प्रताड़ित हो रही हैं, शोषित हो रही हैं। बाजारवाद की गिरफ्त में फँसती स्त्रियों के बारे में विचार करते हुए समरेन्द्र सिंह अपने लेख 'नाच गोरी नाच, मुझे पैसा मिलेगा' में लिखते हैं–'पढ़ी–लिखी लड़कियाँ जो कि स्त्री मुक्ति का झंडा बुलन्द कर सकती थी और समाज में व्याप्त स्त्री शोषण के कुचक्र को खत्म करने का प्रयास कर सकती थीं, आज सड़कों, चौराहों और पर्दों पर अपने बदन की नुमाइश से किसी उत्पाद को बेचती या इन्हीं उत्पादों को खरीदती नजर आती हैं।'[3] विज्ञापन जगत में स्त्री की भूमिका औजार की है, पुरुष उपभोक्ता का शिकार करने के लिए स्त्री का उपयोग चारे की तरह किया जाता है। पुरुषों के उपयोग की वस्तुओं में स्त्री की उपस्थिति के अन्य क्या अर्थ हो सकते हैं ? इस सन्दर्भ में सुधीश पचौरी का विचार है–'विज्ञापनों ने स्त्री को एक नये सौन्दर्यशास्त्र का औजार बनाते हुए उसके शोषण के नये आयाम खोले हैं, किन्तु यह भी सत्य है कि समाज में स्त्री की दावेदारी को बढ़ाया है। हर तरफ दिखने वाली स्त्री की छवि स्त्रियों को चौकों–चूल्हों से बाहर निकालने में किसी हद तक मददगार भी हुई है।'[4]

मैत्रैयी पुष्पा अपने लेख 'गणतंत्र और स्त्री' में अपना क्षोभ व्यक्त करते हुए जानना चाहती हैं–'क्या स्त्री का स्वतंत्रता संग्राम अभी जारी है? माना कि दिनों–दिन वह आगे बढ़ रही है, लेकिन अचानक उसकी यात्रा को बाजार की ओर मोड़ दिया जाता है। .... ऐसा लगता है कि हमारी आजादी झटका खाकर मुँह के बल गिरती है।'[5]

स्त्री–स्वतंत्रता के नाम पर जो 'फ्री सेक्स कल्चर' बढ़ रहा है वह भी स्त्री शोषण का पूँजीवादी औजार है। पूँजीवाद की उपभोक्ता संस्कृति में एक बहुत बड़ा तबका इसकी गिरफ्त में आ चुका है, परिणामस्वरुप सामाजिक संस्थाएँ और उनकी परंपरावादी मान्यताएँ तार–तार हो रही हैं। आज रिश्तों का अतिक्रमण इस कदर बढ़ रहा है कि बाप–बेटी, ससुर–बहू, चाचा–भतीजी..................... बिना किसी अपराध बोध के शारीरिक सम्बन्ध बना रहे हैं। पारिवारिक रिश्तों में बढ़ रही दरार और टूटते–बिखरते परिवारों के साथ–साथ अदालतों में सम्बन्ध–विच्छेद के मुकदमों में दिनों–दिन हो रही वृद्धि स्त्री–मुक्ति की करुण कथा कह रही है। 'फ्री–सेक्स कल्चर' के विकास में वर्तमान मीडिया की भी गहरी दिलचस्पी है। वह एक ओर ऐसी खबरों को परोसकर टी0आर0पी0 बढ़ा रहा है तो दूसरी ओर फैशनपरस्ती के रंग में रंगी आधारहीन वीभत्स संस्कृति को बढ़ावा दे रहा है।

हम स्त्री मुक्ति के खिलाफ नहीं हैं, परन्तु लगता है इस मुक्ति में स्त्री दोहरे शोषण का शिकार हो रही है। मुक्ति आयातित और थोपी हुई नहीं होनी चाहिए, उसकी गति स्वाभाविक होनी चाहिए। मुक्ति की प्रक्रिया अन्दर से बाहर की ओर होनी चाहिए। मुक्ति वैचारिक होनी चाहिए, शारीरिक नहीं। वैचारिक स्वतंत्रता के अभाव में स्त्री–स्वतंत्रता बेमानी है। ऐसे में स्त्रियों का शोषण, उन पर होने वाला अत्याचार बढ़ेगा ही, कम नहीं होगा। इसमें शक नहीं कि स्त्रियों में अपार धैर्य होता है। अगर ऐसा न होता तो अभी तक जितनी भी मुक्ति, अधिकार और सम्मान की कामयाब यात्रा सम्भव हुई है, वह नहीं होती। कुछ ऐसे ही भावों को अभिव्यक्त करती है, आज की स्त्रियों को प्रेरित तसलीमा नसरीन की कविता–

> यह अच्छी तरह याद रखना/जब तुम घर की चौखट लाँघोगी,
> लोग तुम्हें टेढ़ी–मेढ़ी नजरों से देखेंगे/जब तुम गली से होकर गुज़रोगी,
> लोग तुम्हारा पीछा करेंगे, सीटी बजाएँगे/जब तुम गली पार कर,
> मुख्य सड़क पर पहुँचोगी/लोग तुम्हें चरित्रहीन कहकर गालियाँ देंगे,
> तुम व्यर्थ हो जाओगी, अगर पीछे लौटोगी/वरना जैसी जा रही हो, जाओ।

भूमण्डलीकरण के इस दौर में स्त्री देह को भी भूमण्डलीय बनाने में योगदान दे रही बहस और उसकी अन्दरूनी साजिश आज समाज को किस दिशा में ले जायेगी और उसका भविष्य क्या होगा, यह न सिर्फ चिंतनीय है, बल्कि इस दिशा में कोई ठोस, सार्थक कदम उठाने की भी जरुरत है। आज बाजार के तिलस्म और उसके चकाचौंध को देखते हुए समस्त विमर्श आलोचनात्मक सजगता के अभाव में बेमानी हो सकते हैं।

संदर्भ

(1) रेखा कस्तवार–स्त्री चिन्तन की चुनौतियाँ (नामवर सिंह का वक्तव्य), राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2013, पृ0–20, (2) राजेन्द्र यादव (संपा0)–पितृसत्ता के नये रूप, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2010, पृ0–82, (3) रेखा कस्तवार–स्त्री चिन्तन की चुनौतियाँ, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2013, पृ0–130, (4) सुधीश पचौरी–स्त्री देह के विमर्श, आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली, 2002, पृ0–74, (5) मैत्रैयी पुष्पा–गणतंत्र और स्त्री, दैनिक जागरण, 20 जनवरी, 2014, पृ0–12.

*प्रवक्ता, हिन्दी विभाग
राजा हरपाल सिंह महाविद्यालय
सिंगरामऊ, जौनपुर।

Scanned with OKEN Scanner